



ISSN: 2456-4427
Impact Factor: RJIF: 5.11
Jyotish 2017; 2(1): 42-44
© 2017 Jyotish
www.jyotishajournal.com
Received: 28-11-2016
Accepted: 29-12-2016

अभिषेक अग्निहोत्री

शोध छात्र, संस्कृत विभाग,
इंवि०वि०, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश,
भारत

शारीरिक एवं मानसिक उत्कर्ष में आश्रम—व्यवस्था का महत्वपूर्ण योगदान

अभिषेक अग्निहोत्री

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने आश्रम—व्यवस्था संचालित करते समय मनुष्य की मानसिक, शारीरिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं पर गंभीर मनन किया था। आश्रम व्यवस्था में धर्माचरण एवं सामाजिक सुसंगठन दोनों पर समान बल दिया गया है। आश्रम व्यवस्था में सर्वप्रथम मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम का आश्रय ग्रहण करता है। इसमें रहकर वह धर्माचरणों का दृढ़तापूर्वक पालन करता है तथा इसी आश्रम में रहकर वह अर्थ एवं काम के प्रबल संवेगों पर धर्मानुकूल नियंत्रण रखने की सीख भी लेता है। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर मनुष्य धर्मपूर्वक काम एवं अर्थ का उपभोग एवं संचयन करता है। वानप्रस्थ आश्रम में पहुँचकर मनुष्य पुनः धर्माचरणों के अनुपालन पर बल देने लगता है। संन्यास आश्रम में मोक्ष प्राप्ति ही संन्यासी का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है।

प्राच्य भारतीय मनीषियों ने मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ निर्धारित किये— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चतुःपुरुषार्थों के सम्यक् सेवन के लिए चतुराश्रम की व्यवस्था की गयी। आङ् पूर्वक श्रम धातु में घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न आश्रम शब्द का अर्थ है— श्रम या परिश्रम करते—करते ठहरने का स्थान, जिसमें आलस्य को स्थान नहीं। आश्रम— व्यवस्था में मनुष्य एक आश्रम जीवन से दूसरे आश्रम जीवन में प्रवेश करने के लिए मनोवैज्ञानिक, नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक तैयारी करने का सुअवसर प्राप्त करता है। मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष स्वीकार करते हुए धर्मादि चतुःपुरुषार्थों के सम्यक् उपभोग हेतु जीवन को 25—25 वर्षों के चार बराबर भागों में विभाजित किया गया— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास।¹ आचार्यों ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से मानव की कार्य पद्धतियों का मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय अध्ययन करके प्रत्येक आश्रम के लिये मूलभूत कर्तव्यों का निर्धारण किया है जिनके पालन से व्यक्तिकी लौकिक एवं पारलौकिक एषणाओं की पूर्ति होती है² और पालन न करने पर यह यातना प्राप्त करने वाला हो जाता है।³

ब्रह्मचर्याश्रम

मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सब अवस्थाओं में सदा त्याग करके सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना 'ब्रह्मचर्य' है। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश उपनयन संस्कार के उपरान्त होता था।⁴ यह आश्रम वेदाध्ययन काल का है।⁵ वेद को ब्रह्म कहा जाता है, इसीलिये इसका अध्ययन का व्रत ब्रह्मचर्य तथा अध्येता को ब्रह्मचारी कहा गया है।⁶ ब्रह्मचर्य शब्द की निष्पत्ति 'ब्रह्म' अर्थात् वेद ज्ञान अथवा महाज्ञान तथा 'चर्य' अर्थात् अनुसरण करना शब्दों से हुई है। इसका तात्पर्य है— 'ब्रह्म अर्थात् वेद के मार्ग पर चलना' (ब्रह्म वेद इति श्रुतेः)। इस आश्रम में बालक गुरुकुल में रहकर अपनी इन्द्रियों को भौतिक सुखों से हटाकर संयम एवं तप द्वारा ज्ञान एवं विज्ञान का गहन अध्ययन एवं मनन करता था। कौटिल्य के मतानुसार ब्रह्मचारी का कर्तव्य था— वेदाध्ययन, अग्नि का अभिषेक, भिक्षावृत्ति और गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपुत्र या ज्येष्ठ ब्रह्मचारी की सेवा करना।⁷ मनु का कथन है कि अपनी कामनाओं को वश में रखना तथा अपनी क्रियाओं को धर्म समन्वित करना ब्रह्मचारी का श्रेष्ठ आचरण था।⁸ ब्रह्मचर्य का प्रधान अर्थ 'उपस्थ संयम' ही भले हो परन्तु यह तभी सम्भव है जब रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श सभी विषयों के प्रति संयम किया जाय। ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी ज्ञान के साथ—साथ धर्म की साधना पर अधिक बल देता था। वह इस आश्रम—धर्म के अनुशासन में परिपक्व होकर अन्य आश्रमों में अर्थ, काम एवं मोक्ष जैसे पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए तैयार हो जाता था। वह इसी काल में धर्म— साधना द्वारा पंच ऋणों से निवृत्ति पाने का संकल्प लेता था। ब्रह्मचर्याश्रम व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए निर्दिष्ट एक वैज्ञानिक जीवन पद्धति है।

Correspondence

अभिषेक अग्निहोत्री

शोध छात्र, संस्कृत विभाग,
इंवि०वि०, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश,
भारत

गृहस्थाश्रम

वेदाध्ययन के पश्चात् समावर्तन संस्कार के समय स्नातक को वंश परम्परा अविच्छिन्न रखने का निर्देश दिया जाता है। एतदर्थ वह विवाह संस्कार के माध्यम से अपने लिए गृहिणी प्राप्त करता है और इसके द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। गृहस्थाश्रम को न स्वीकार करने वाले को हेय माना गया है।⁹ ऋग्वेद में गृहस्थाश्रम स्वीकार करने को कहा है— किसी से विरोध न करो, गृहस्थाश्रम में रहो, पूर्ण आयु प्राप्त करो, पुत्र—पौत्रों के साथ खेलते हुए आनन्दपूर्वक अपने घर में रहो और घर को आदर्श रूप बनाओ।¹⁰ मनुस्मृति के अनुसार जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर सभी जीवों का जीवन चलता है उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थाश्रम का आश्रय लेते हैं।¹¹ जन्म होते ही मनुष्य देव—ऋण, ऋषि—ऋण और पितृ—ऋण का ऋणी हो जाता है। वेदों के अध्ययन से देवऋण, यज्ञानुष्ठान से ऋषिऋण तथा सन्तानोत्पादन द्वारा पितृऋण से मुक्त होने का विधान है।¹² अतएव अध्यापन, सन्तानोत्पत्ति एवं यज्ञसम्पादन गृहस्थ के अनिवार्य कर्तव्य थे। पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन गृहस्थ के लिये आवश्यक है। मनु के अनुसार अध्ययन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, बलि भूतयज्ञ तथा अतिथिपूजन न्ययज्ञ हैं।¹³ पञ्चमहायज्ञों के सम्पादन से दैनिक कार्यों में हुयी जीवहिंसा के दोषों से व्यक्ति मुक्त हो जाता है।¹⁴ पञ्चमहायज्ञों की व्यवस्था मनुष्य की सामाजिक, धार्मिक और नैतिक उन्नति की दृष्टि से विहित है। गृहस्थाश्रम कर्मभूमि है तथा त्रिवर्ग की प्राप्ति इसी में की जा सकती है, इसीलिए गृहस्थ के लिये विभिन्न कर्तव्य निर्धारित किये गये जिससे वह सारे दायित्वों का न्यायसप्रत निर्वाह कर सके। परमपुरुषार्थ मोक्ष की साधना के लिये आवश्यक ऋणत्रय से मुक्ति तथा मोक्ष के साधनभूत त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम का सम्पादन गृहस्थाश्रम में ही सम्भव है।

वानप्रस्थाश्रम

मनुष्य बालों के सफेद हो जाने पर तथा इन्द्रियों के शिथिल हो जाने के पश्चात् गृहस्थाश्रम को छोड़कर मोक्ष प्राप्ति के लिए वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय ग्रहण करता है। गृहस्थ पुरुष को गाँव में खाए जाने वाले भोजन को, सभी तरह के राजसी कपड़ों को, घोड़ा, रथ, शय्या, गाय, भैंस आदि सुविधाप्रद साधनों को त्याग कर तथा अपनी पत्नी को पुत्र को सौंपकर अकेले अथवा पत्नी सहित वन को चले जाना चाहिए।¹⁵ वानप्रस्थ जंगल में जाने का कार्य मात्र नहीं अपितु निवृत्ति की भावना का प्रतीक है। गृहस्थाश्रम में जो परिग्रह की भावना बनी रहती है उससे अलग होना ही वानप्रस्थ का प्रमुख उद्देश्य है। नगरीय वृत्ति धारण करते हुये कामादि षड्रिपुओं का दमन सरल नहीं है, फलतः निसर्गसुषमासम्पन्न वनप्रदेश को उसका समुचित वातावरण माना गया इसलिये गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम के लिए वनप्रदेश में प्रवेश का निर्देश दिया गया। वनप्रदेश में कठोर नियमों का पालन करते हुये वानप्रस्थी अपने शरीर की शुद्धि करता है तथा विद्या रूपी तपस्या का उत्कर्ष करके अपने चित्त को सांसारिक विषयों से प्रत्यावर्तित करने का प्रयास करता था।¹⁶ महाभारत में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य, क्षमा, शौच ये वानप्रस्थी के सनातन धर्म हैं जिनका पालन करने पर वह स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।¹⁷ वानप्रस्थाश्रम व्यक्तिगत उत्कर्ष के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं के समाधान का भी मार्ग प्रशस्त करता है। इसके पालन से प्रत्येक 25 वर्ष के बाद समाज की रूपरेखा बदलती रहती है और उत्कृष्टतर होने की ओर अग्रसर होता रहता है।

संन्यासाश्रम

यह आश्रम मनुष्य की चतुर्थ अवस्था अर्थात् 75 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर 100 वर्ष के बीच की आयु में होता है। संन्यास शब्द का अर्थ है— सम्यक् रूप से त्याग।¹⁸ गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि संन्यासी वह है जो न किसी से द्वेष करता है, न ही किसी की आकाङ्क्षा करता है क्योंकि वह राग—द्वेषादि द्वन्द्वों से

रहित सुखपूर्वक संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है।¹⁹ संन्यासी के लिये भिक्षु, यति, परिव्राट् तथा परिव्राजक सञ्ज्ञाओं का भी प्रयोग मिलता है। महाभारत में कहा गया है कि संन्यासी की दृष्टि में पाषाण और काञ्चन, शत्रु, मित्र, उदासीन आदि सब समान होते हैं।²⁰ संन्यास धारण करने वालों के लिए भारतीय मनीषियों ने अनेक कर्तव्यों का निर्देश किया है जैसे— निरपेक्ष और एकाकी जीवन, अल्पभोजन, एकान्तवास और उसे दिन में एक बार भिक्षाग्रहण करने की अनुमति दी गयी है क्योंकि भिक्षासक्त होने पर विषयासक्त होने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं।²¹ इन्द्रियजय के अतिरिक्त भ्रमणशीलता उसका प्रधान गुण माना गया है। सही भिक्षु वही है जो गृहविहीन हो तथा शारीरिक कष्ट होने पर भी अनेक स्थानों का भ्रमण करता रहे।²² वस्तुतः संन्यासी समाज के लिये निठल्ला नहीं हो जाता था प्रत्युत उसके लिये सर्वाधिक उपयोगी होता था। वह अपने पराये की भावना से बहुत ऊपर उठकर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का व्यवहार करता था, लोक कल्याण में अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं करता था। इस प्रकार संन्यासी इन्द्रियनिरोध, रागद्वेषत्याग तथा अहिंसा समन्वित लोकोपकार द्वारा सरलतया मोक्षयोग्य हो जाता था।²³

उपसंहार

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति के व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ—साथ समष्टिगत उत्कर्ष को ध्यान में रखकर आश्रम—व्यवस्था को सृजित किया था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों के माध्यम से व्यक्ति को बौद्धिक, शारीरिक और आध्यात्मिक उन्नति के साथ—साथ परमात्मतत्त्व अर्थात् मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। आश्रमव्यवस्था आत्मा के विकास का क्रमिक सौपान है। ब्रह्मचर्याश्रम में अन्तेवासी पूर्णतया आत्मकेन्द्रित होता है उसे अपने लिये भोजन वस्त्रादि की भी चिन्ता नहीं करनी पड़ती, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति गृहस्थ द्वारा कर दी जाती है। गृहस्थाश्रम में उसे अपने दायित्वों के प्रति सचेत रहना पड़ता है, माता, पिता, पत्नी, सन्तान आदि अपने स्वजनों की भी चिन्ता करनी पड़ती है। इस प्रकार उसका स्वार्थ परार्थ की ओर उन्मुख होने लगता है। वानप्रस्थाश्रम में अरण्यवास करते हुये वह समीप आये नव गृहस्थों को उपदेश देता है तथा बच्चों की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार करता है। इससे उसकी आत्मीयता अपने परिवारवालों से ऊपर उठकर पूरे गाँव या नगर के लोगों तक प्रसारित हो जाती है। गुरुकुल में आये समस्त छात्र उसके अपने परिवार के पुत्र जैसे होते हैं। संन्यासग्रहण कर लेने पर उसकी दृष्टि समभाव से युक्त हो जाती है, वह कुत्ते और चाण्डाल में भी आत्मीयता का व्यवहार करता है। यही सर्वव्याप्त आत्मा का दर्शन है, यही माया के बन्धन का नाश है। इस प्रकार आश्रमव्यवस्था व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक उभयविध उत्कर्ष को साकार रूप देने में समर्थ है और चारों आश्रमों में क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थों का सेवन सुलभ हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रवाश्चत्वारः पृथाग्रामः ॥ (मनुस्मृति—6.87)
2. वर्णानामाश्रमाणां च धर्मन्धर्मभूतां वर।
लोकांश्च सर्ववर्णानां सम्यग्धर्मानुपालिनाम् ॥ (विष्णुपुराण—1.6.33)
3. भ्रष्टश्चाश्रमधर्मेषु.....यातनास्थानमागताः ॥ (मत्स्यपुराण—1.41.66—67)
4. बौधायन गृह्यसूत्र—2.8.1.12
5. विद्यार्थ ब्रह्मचारी स्यात्। (शुक्रनीति—4.41)
6. ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं व्रतं तदपि ब्रह्म। तच्चरतीति ब्रह्मचारी।
(काशिका—8.3.86)

7. ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायोऽग्निकार्याभिषेकौ भैक्षव्रतस्त्वमाचार्ये प्राणान्तिकी वृत्तिस्तदभावे गुरुपुत्रे सब्रह्मचारिणि वा। (अर्थशास्त्र-1.3)
8. इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु। संयमे यत्नमान्तिष्ठेद्विद्वान्यतेव वाजिनाम्।। (मनुस्मृति-2.88)
9. अधीतः स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वा रोढव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वा सोढोऽयं जाल्मः। (महाभाष्य-2.1.26)
10. इहेव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तो पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।। (ऋग्वेद-10.85.42)
11. यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।। (मनुस्मृति-3.77)
12. अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।। (मनुस्मृति-6.36)
13. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिभौतोनृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। (मनुस्मृति-3.70)
14. पञ्चैतान् यो महायज्ञान्नाहापयति शक्तितः। स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।। (मनुस्मृति-3.71)
15. सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा।। (मनुस्मृति-6.3)
16. विद्यातपो विवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये। (मनुस्मृति-6.30)
17. ब्रह्मचर्यं क्षमा शौचं तस्य धर्मः सनातनः। एवं स विगते प्राणे देवलोके महीयते।। (महाभारत, अनुशासनपर्व-1.41)
18. सम्यक् न्यासः प्रतिग्रहाणां संन्यासः। (बोधायन धर्मसूत्र-10.1)
19. ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति। निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। (गीता-5.3)
20. समलोकाश्मकाश्च नास्त्रिवर्गप्रवृत्तेष्वसक्तबुद्धयोऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्शना। (महाभारत, शान्तिपर्व-192.3)
21. एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत् विस्तरे। भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति।। (मनुस्मृति-6.55)
22. अनीकशायी विगृहश्च.....देशानेकचरः स भिक्षुः।। (मत्स्यपुराण-40.5)
23. इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण वा। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते।। (मनुस्मृति-6.60)